

परमहंसगीता

[जडभरत-रहूगण-संवाद]

[परमहंसगीता श्रीमद्भागवतमहापुराणके पंचम स्कन्धके अन्तर्गत रहूगणोपाख्यानके रूपमें प्राप्त होती है। इसमें परमहंस-अवस्थामें विचरण करते परमज्ञानी ब्राह्मण भरतकी सिन्धुनरेश रहूगणसे भेंट होने तथा उनके द्वारा राजाको दिये गये गूढ़ तात्त्विक उपदेशोंका वर्णन है। भरत नामक वे ब्राह्मणश्रेष्ठ सर्वदा अद्वैतभावमें स्थित रहनेके कारण बाह्यतः जड़ प्रतीत होते थे, अतः उन्हें जडभरत भी कहा जाता है। इस गीतामें दस इन्द्रियाँ तथा अहंकार—ये ग्यारह वृत्तियाँ मनकी बतायी गयी हैं, जो मायाके वशीभूत होकर सुख-दुःखका अनुभव कराती हैं। जब ज्ञानोदयद्वारा मायाका तिरस्कारकर आसक्तिको छोड़नेसे आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है, तब मनुष्य सुख-दुःखसे परे हो जाता है, वह सदा परम आत्मानन्दमें डूबा रहता है। इस गीतामें विषयवार्ताका त्याग, आत्मानुसन्धान, अनासक्ति तथा गुरु एवं श्रीहरिके चरणोंका आश्रय ही मायासे बचनेके उपाय बताये गये हैं। पुनर्जन्मविषयक संक्षिप्त दृष्टान्त तथा भवाटवीके विस्तृत रूपकके कारण यह गीता रोचक तथा सुबोध भी हो गयी है। पाँच अध्यायोंवाली यह परमहंसगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

पहला अध्याय

जडभरत और राजा रहूगणकी भेंट

श्रीशुक उवाच

अथ सिन्धुसौवीरपते रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे
तत्कुलपतिना शिबिकावाहपुरुषान्वेषणसमये दैवेनोपसादितः
स द्विजवर उपलब्ध एष पीवा युवा संहननाङ्गो गोखरवद्धुरं
वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह उवाह

शिबिकां स महानुभावः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—[राजन्!] एक बार सिन्धुसौवीर देशका स्वामी राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर जा रहा था। जब वह इक्षुमती नदीके किनारे पहुँचा, तब उसकी पालकी उठानेवाले कहारोंके जमादारको एक कहारकी आवश्यकता पड़ी। कहारकी खोज करते समय दैववश उसे ये ब्राह्मणदेवता मिल गये। इन्हें देखकर उसने सोचा, 'यह मनुष्य हृष्ट-पुष्ट, जवान और गठीले अंगोंवाला है। इसलिये यह तो बैल या गधेके समान अच्छी तरह बोझा ढो सकता है।' यह सोचकर उसने बेगारमें पकड़े हुए अन्य कहारोंके साथ इन्हें भी बलात् पकड़कर पालकीमें जोड़ दिया। महात्मा भरतजी यद्यपि किसी प्रकार इस कार्यके योग्य नहीं थे, तो भी वे बिना कुछ बोले चुपचाप पालकीको उठा ले चले ॥ १ ॥

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह हे वोढारः साध्वतिक्रमत किमिति विषममुह्यते यानमिति ॥ २ ॥

वे द्विजवर, कोई जीव पैरोंतले दब न जाय—इस डरसे आगेकी एक बाण पृथ्वी देखकर चलते थे। इसलिये दूसरे कहारोंके साथ उनकी चालका मेल नहीं खाता था; अतः जब पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी, तब यह देखकर राजा रहूगणने पालकी उठानेवालोंसे कहा—'अरे कहारो! अच्छी तरह चलो, पालकीको इस प्रकार ऊँची-नीची करके क्यों चलते हो?' ॥ २ ॥

अथ त ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपायतुरी-याच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयाम्बभूवुः ॥ ३ ॥

तब अपने स्वामीका यह आक्षेपयुक्त वचन सुनकर कहारोंको डर

लगा कि कहीं राजा उन्हें दण्ड न दें। इसलिये उन्होंने राजासे इस प्रकार निवेदन किया ॥ ३ ॥

न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः ।
अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमु ह वयं
पारयाम इति ॥ ४ ॥

‘महाराज ! यह हमारा प्रमाद नहीं है, हम आपकी नियम-मर्यादाके अनुसार ठीक-ठीक ही पालकी ले चल रहे हैं। यह एक नया कहार अभी-अभी पालकीमें लगाया गया है तो भी यह जल्दी-जल्दी नहीं चलता। हमलोग इसके साथ पालकी नहीं ले जा सकते’ ॥ ४ ॥

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां
भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण
उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युर-
विस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसावृतमतिराह ॥ ५ ॥

कहारोंके ये दीन वचन सुनकर राजा रहूगणने सोचा, ‘संसर्गसे उत्पन्न होनेवाला दोष एक व्यक्तिमें होनेपर भी उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी पुरुषोंमें आ सकता है। इसलिये यदि इसका प्रतीकार न किया गया तो धीरे-धीरे ये सभी कहार अपनी चाल बिगाड़ लेंगे।’ ऐसा सोचकर राजा रहूगणको कुछ क्रोध हो आया। यद्यपि उसने महापुरुषोंका सेवन किया था तथापि क्षत्रियस्वभाववश बलात् उसकी बुद्धि रजोगुणसे व्याप्त हो गयी और वह उन द्विजश्रेष्ठसे, जिनका ब्रह्मतेज भस्मसे ढके हुए अग्निके समान प्रकट नहीं था, इस प्रकार व्यंग्यभरे वचन कहने लगा— ॥ ५ ॥

अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरु परिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव
ऊहिवान् सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान्
सखे नो एवापर एते सङ्घट्टिन इति बहु विप्रलब्धोऽप्यविद्यया
रचितद्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषेऽहं-

ममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां
पूर्ववदुवाह ॥ ६ ॥

‘अरे भैया! बड़े दुःखकी बात है, अवश्य ही तुम बहुत थक गये हो। ज्ञात होता है, तुम्हारे इन साथियोंने तुम्हें तनिक भी सहारा नहीं लगाया। इतनी दूरसे तुम अकेले ही बड़ी देरसे पालकी ढोते चले आ रहे हो। तुम्हारा शरीर भी तो विशेष मोटा-ताजा और हट्टा-कट्टा नहीं है, और मित्र! बुढ़ापेने अलग तुम्हें दबा रखा है।’ इस प्रकार बहुत ताना मारनेपर भी वे पहलेकी ही भाँति चुपचाप पालकी उठाये चलते रहे! उन्होंने इसका कुछ भी बुरा न माना; क्योंकि उनकी दृष्टिमें तो पंचभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणका संघात यह अपना अन्तिम शरीर अविद्याका ही कार्य था। वह विविध अंगोंसे युक्त दिखायी देनेपर भी वस्तुतः था ही नहीं, इसलिये उसमें उनका मैं-मेरेपनका मिथ्या अध्यास सर्वथा निवृत्त हो गया था और वे ब्रह्मरूप हो गये थे ॥ ६ ॥

अथ पुनः स्वशिबिकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच
रहूगणः किमिदमे त्वं जीवन्मृतो मां कदर्थीकृत्य
भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां
दण्डपाणिरिव जनताया यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति ॥ ७ ॥

(किन्तु) पालकी अब भी सीधी चालसे नहीं चल रही है—यह देखकर राजा रहूगण क्रोधसे आग-बबूला हो गया और कहने लगा, ‘अरे! यह क्या? क्या तू जीता ही मर गया है? तू मेरा निरादर करके (मेरी) आज्ञाका उल्लंघन कर रहा है! मालूम होता है, तू सर्वथा प्रमादी है। अरे! जैसे दण्डपाणि यमराज जनसमुदायको उसके अपराधोंके लिये दण्ड देते हैं, उसी प्रकार मैं भी अभी तेरा इलाज किये देता हूँ। तब तेरे होश ठिकाने आ जायँगे’ ॥ ७ ॥

एवं बह्वबद्धमपि भाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानु-
विद्धेन मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स
भगवान् ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः सर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां
नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह ॥ ८ ॥

रहूणको राजा होनेका अभिमान था, इसलिये वह इसी प्रकार
बहुत-सी अनाप-शनाप बातें बोल गया। वह अपनेको बड़ा पण्डित
समझता था, अतः रज-तमयुक्त अभिमानके वशीभूत होकर उसने
भगवान्‌के अनन्य प्रीतिपात्र भक्तवर भरतजीका तिरस्कार कर डाला।
योगेश्वरोंकी विचित्र कहनी-करनीका तो उसे कुछ पता ही न था।
उसकी ऐसी कच्ची बुद्धि देखकर वे सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् एवं आत्मा,
ब्रह्मभूत ब्राह्मणदेवता मुसकराये और बिना किसी प्रकारका अभिमान
किये इस प्रकार कहने लगे ॥ ८ ॥

ब्राह्मण उवाच

त्वयोदितं

व्यक्तमविप्रलब्धं

भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः ।

गन्तुर्यदि

स्यादधिगम्यमध्वा

पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥ ९ ॥

जडभरतने कहा—राजन्! तुमने जो कुछ कहा वह यथार्थ है।
उसमें कोई उलाहना नहीं है। यदि भार नामकी कोई वस्तु है तो
ढोनेवालेके लिये है, यदि कोई मार्ग है तो वह चलनेवालेके लिये
है। मोटापन भी उसीका है, यह सब शरीरके लिये कहा जाता है,
आत्माके लिये नहीं। ज्ञानीजन ऐसी बात नहीं करते ॥ ९ ॥

स्थौल्यं

कार्श्यं

व्याधय

आधयश्च

क्षुत्तृड्भयं

कलिरिच्छा

जरा

च ।

निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥ १० ॥

स्थूलता, कृशता, आधि, व्याधि, भूख, प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक—ये सब धर्म देहाभिमानको लेकर उत्पन्न होनेवाले जीवमें रहते हैं; मुझमें इनका लेश भी नहीं है ॥ १० ॥

जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्
आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम्।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः ॥ ११ ॥

राजन्! तुमने जो जीने-मरनेकी बात कही—सो जितने भी विकारी पदार्थ हैं, उन सभीमें नियमितरूपसे ये दोनों बातें देखी जाती हैं; क्योंकि वे सभी आदि-अन्तवाले हैं। यशस्वी नरेश! जहाँ स्वामी-सेवकभाव स्थिर हो, वहीं आज्ञापालनादिका नियम भी लागू हो सकता है ॥ ११ ॥

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत्।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं
तथापि राजन् करवाम किं ते ॥ १२ ॥

‘तुम राजा हो और मैं प्रजा हूँ’ इस प्रकारकी भेदबुद्धिके लिये मुझे व्यवहारके सिवा और कहीं तनिक भी अवकाश नहीं दिखायी देता। परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो किसे स्वामी कहें और किसे सेवक? फिर भी राजन्! तुम्हें यदि स्वामित्वका अभिमान है तो कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ? ॥ १२ ॥

उन्मत्तमत्तजडवत्स्वसंस्थां
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन।

अर्थः कियान् भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः ॥ १३ ॥

वीरवर! मैं मत्त, उन्मत्त और जडके समान अपनी ही स्थितिमें रहता हूँ। मेरा इलाज करके तुम्हें क्या हाथ लगेगा? यदि मैं वास्तवमें जड और प्रमादी ही हूँ तो भी मुझे शिक्षा देना पिये हुएको पीसनेके समान व्यर्थ ही होगा ॥ १३ ॥

श्रीशुक उवाच

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य मुनिवर उपशमशील
उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन कर्मरब्धं व्यपनयन् राजयानमपि
तथोवाह ॥ १४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—[परीक्षित्!] मुनिवर जडभरत यथार्थ तत्त्वका उपदेश करते हुए इतना उत्तर देकर मौन हो गये। उनका देहात्मबुद्धिका हेतुभूत अज्ञान निवृत्त हो चुका था, इसलिये वे परम शान्त हो गये थे। अतः इतना कहकर भोगद्वारा प्रारब्धक्षय करनेके लिये वे फिर पहलेके ही समान उस पालकीको कन्धेपर लेकर चलने लगे ॥ १४ ॥

स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां
सम्यक्श्रद्धयाधिकृताधिकारस्तद्धृदयग्रन्थिमोचनं द्विजवच
आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं त्वरयावरुह्य शिरसा पादमूलमुपसृतः
क्षमापयन् विगतनृपदेवस्मय उवाच ॥ १५ ॥

परीक्षित्! सिन्धु-सौवीरनरेश रहुगण भी अपनी उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वजिज्ञासाका पूरा अधिकारी था। जब उसने उन द्विजश्रेष्ठके अनेकों योग-ग्रन्थोंसे समर्थित और हृदयकी ग्रन्थिका छेदन करनेवाले ये वाक्य सुने, तब वह तत्काल पालकीसे उतर पड़ा। उसका राजमद सर्वथा दूर हो गया और वह उनके चरणोंमें सिर रखकर अपना अपराध

क्षमा कराते हुए इस प्रकार कहने लगा ॥ १५ ॥

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां
 बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः ।
 कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
 क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः ॥ १६ ॥

[देव!] आपने द्विजोंका चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रखा है, बतलाइये इस प्रकार प्रच्छन्नभावसे विचरनेवाले आप कौन हैं? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतोंमेंसे कोई हैं? आप किसके पुत्र हैं, आपका कहाँ जन्म हुआ है और यहाँ कैसे आपका पदार्पण हुआ है? यदि आप हमारा कल्याण करने पधारे हैं तो क्या आप साक्षात् सत्त्वमूर्ति भगवान् कपिलजी ही तो नहीं हैं? ॥ १६ ॥

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा-
 न त्र्यक्षशूलान् यमस्य दण्डात् ।

नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्रा-

च्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात् ॥ १७ ॥

मुझे इन्द्रके वज्रका कोई डर नहीं है, न मैं महादेवजीके त्रिशूलसे डरता हूँ और न यमराजके दण्डसे। मुझे अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और कुबेरके अस्त्र-शस्त्रोंका भी कोई भय नहीं है; परन्तु मैं ब्राह्मणकुलके अपमानसे बहुत ही डरता हूँ ॥ १७ ॥

तद् ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढ-
 विज्ञानवीर्यो विचरस्यपारः ।

वचांसि योगग्रथितानि साधो
 न नः क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम् ॥ १८ ॥

अतः कृपया बतलाइये, इस प्रकार अपने विज्ञान और शक्तिको छिपाकर मूर्खोंकी भाँति विचरनेवाले आप कौन हैं? विषयोंसे तो आप

सर्वथा अनासक्त जान पड़ते हैं। मुझे आपकी कोई थाह नहीं मिल रही है। हे साधो! आपके योगयुक्त वाक्योंकी बुद्धिद्वारा आलोचना करनेपर भी मेरा सन्देह दूर नहीं होता ॥ १८ ॥

अहं च योगेश्वरमात्मतत्त्व-

विदां मुनीनां परमं गुरुं वै।

प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं तत्

साक्षाद्भरिं ज्ञानकलावतीर्णम् ॥ १९ ॥

मैं आत्मज्ञानी मुनियोंके परम गुरु और साक्षात् श्रीहरिकी ज्ञानशक्तिके अवतार योगेश्वर भगवान् कपिलसे यह पूछनेके लिये जा रहा था कि इस लोकमें एकमात्र शरण लेनेयोग्य कौन है? ॥ १९ ॥

स वै भवाँल्लोकनिरीक्षणार्थ-

मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपिस्वित्।

योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः

कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः ॥ २० ॥

क्या आप वे कपिलमुनि ही हैं, जो लोकोंकी दशा देखनेके लिये इस प्रकार अपना रूप छिपाकर विचर रहे हैं? भला, घरमें आसक्त रहनेवाला विवेकहीन पुरुष योगेश्वरोंकी गति कैसे जान सकता है? ॥ २० ॥

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै

भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये ।

यथासतोदानयनाद्यभावात्

समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥ २१ ॥

मैंने युद्धादि कर्मोंमें अपनेको श्रम होते देखा है, इसलिये मेरा अनुमान है कि बोझा ढोने और मार्गमें चलनेसे आपको भी अवश्य ही होता होगा। मुझे तो व्यवहार-मार्ग भी सत्य ही जान पड़ता है; क्योंकि मिथ्या घड़ेसे जल लाना आदि कार्य नहीं होता ॥ २१ ॥

स्थाल्यग्नितापात्ययसोऽभिताप-

स्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः

।

देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्

तत्संसृतिः

पुरुषस्यानुरोधात् ॥ २२ ॥

(देहादिके धर्मोंका आत्मापर कोई प्रभाव ही नहीं होता, ऐसी बात भी नहीं है) चूल्हेपर रखी हुई बटलोई जब अग्निसे तपने लगती है, तब उसका जल भी खौलने लगता है और फिर उस जलसे चावलका भीतरी भाग भी पक जाता है। इसी प्रकार अपनी उपाधिके धर्मोंका अनुवर्तन करनेके कारण देह, इन्द्रिय, प्राण और मनकी सन्निधिसे आत्माको भी उनके धर्म श्रमादिका अनुभव होता ही है ॥ २२ ॥

शास्ताभिगोप्ता

नृपतिः

प्रजानां

यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम्।

स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य

यदीहमानो

विजहात्यधौघम् ॥ २३ ॥

आपने जो दण्डादिकी व्यर्थता बतायी, सो राजा तो प्रजाका शासन और पालन करनेके लिये नियुक्त किया हुआ उसका दास ही है। उसका उन्मत्तादिको दण्ड देना पिसे हुण्को पीसनेके समान व्यर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि अपने धर्मका आचरण करना भगवान्की सेवा ही है, उसे करनेवाला व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण पापराशिको नष्ट कर देता है ॥ २३ ॥

तन्मे

भवान्नरदेवाभिमान-

मदेन

तुच्छीकृतसत्तमस्य।

कृषीष्ट

मैत्रीदृशमार्तबन्धो

यथा

तरे

सदवध्यानमंहः ॥ २४ ॥

दीनबन्धो! राजत्वके अभिमानसे उन्मत्त होकर मैंने आप-जैसे

परम साधुकी अवज्ञा की है। अब आप ऐसी कृपादृष्टि कीजिये, जिससे इस साधु-अवज्ञारूप अपराधसे मैं मुक्त हो जाऊँ ॥ २४ ॥

न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य
साम्येन वीताभिमतेस्तवापि ।

महद्विमानात् स्वकृताद्धि मादृङ्
नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ॥ २५ ॥

आप देहाभिमानशून्य और विश्वबन्धु श्रीहरिके अनन्य-भक्त हैं; इसलिये सबमें समान दृष्टि होनेसे इस मानापमानके कारण आपमें कोई विकार नहीं हो सकता तथापि एक महापुरुषका अपमान करनेके कारण मेरे-जैसा पुरुष साक्षात् त्रिशूलपाणि महादेवजीके समान प्रभावशाली होनेपर भी, अपने अपराधसे अवश्य थोड़े ही कालमें नष्ट हो जायगा ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसगीतायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

राजा रहुगणको भरतजीका उपदेश

ब्राह्मण उवाच

अकोविदः कोविदवादवादान्
वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः ।
न सूरयो हि व्यवहारमेनं
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥ १ ॥

जडभरतने कहा—[राजन्!] तुम अज्ञानी होनेपर भी पण्डितोंके समान ऊपर-ऊपरकी तर्क-वितर्कयुक्त बात कह रहे हो। इसलिये श्रेष्ठ ज्ञानियोंमें तुम्हारी गणना नहीं हो सकती। तत्त्वज्ञानी पुरुष इस

अविचारसिद्ध स्वामी-सेवक आदि व्यवहारको तत्त्वविचारके समय सत्यरूपसे स्वीकार नहीं करते ॥ १ ॥

तथैव

राजन्नुरुगार्हमेध-

वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।

न

वेदवादिषु

हि

तत्त्ववादः

प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः ॥ २ ॥

राजन्! लौकिक व्यवहारके समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है, क्योंकि वेदवाक्य भी अधिकतर गृहस्थजनोचित यज्ञविधिके विस्तारमें ही व्यस्त हैं, राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञानकी पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं हुई है ॥ २ ॥

न

तस्य

तत्त्वग्रहणाय

साक्षाद्

वरीयसीरपि

वाचः

समासन् ।

स्वप्ने

निरुक्त्या

गृहमेधिसौख्यं

न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥ ३ ॥

जिसे गृहस्थोचित यज्ञादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाला स्वर्गादि सुख स्वप्नके समान हेय नहीं जान पड़ता, उसे तत्त्वज्ञान करानेमें साक्षात् उपनिषद्-वाक्य भी समर्थ नहीं है ॥ ३ ॥

यावन्मनो

रजसा

पूरुषस्य

सत्त्वेन

वा

तमसा

वानुरुद्धम् ।

चेतोभिराकूतिभिरातनोति

निरङ्कुशं

कुशलं

चेतरं

वा ॥ ४ ॥

जबतक मनुष्यका मन सत्त्व, रज अथवा तमोगुणके वशीभूत रहता है, तबतक वह बिना किसी अंकुशके उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंसे शुभाशुभ कर्म कराता रहता है ॥ ४ ॥

स वासनात्मा विषयोपरक्तो
 गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा ।
 बिभ्रत्पृथङ्नामभि रूपभेद-
 मन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति ॥ ५ ॥

यह मन वासनामय, विषयासक्त, गुणोंसे प्रेरित, विकारी और भूत एवं इन्द्रियरूप सोलह कलाओंमें मुख्य है। यही भिन्न-भिन्न नामोंसे देवता और मनुष्यादिरूप धारण करके शरीररूप उपाधियोंके भेदसे जीवकी उत्तमता और अधमताका कारण होता है ॥ ५ ॥

दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं
 कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति ।

आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
 स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥ ६ ॥

यह मायामय मन संसारचक्रमें छलनेवाला है, यही अपनी देहके अभिमानी जीवसे मिलकर उसे कालक्रमसे प्राप्त हुए सुख-दुःख और इनसे व्यतिरिक्त मोहरूप अवश्यम्भावी फलोंकी अभिव्यक्ति करता है ॥ ६ ॥

तावानयं व्यवहारः सदाविः
 क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः ।
 तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
 गुणागुणत्वस्य परावरस्य ॥ ७ ॥

जबतक यह मन रहता है, तभीतक जाग्रत् और स्वप्नावस्थाका व्यवहार प्रकाशित होकर जीवका दृश्य बनता है। इसलिये पण्डितजन मनको ही त्रिगुणमय अधम संसारका और गुणातीत परमोत्कृष्ट मोक्षपदका कारण बताते हैं ॥ ७ ॥

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
 क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।
 यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्
 शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ।
 पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं
 वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥ ८ ॥

विषयासक्त मन जीवको संसार-संकटमें डाल देता है, विषयहीन होनेपर वही उसे शान्तिमय मोक्षपद प्राप्त करा देता है। जिस प्रकार घीसे भीगी हुई बत्तीको खानेवाले दीपकसे तो धुएँवाली शिखा निकलती रहती है और जब घी समाप्त हो जाता है, तब वह अपने कारण अग्नितत्त्वमें लीन हो जाता है—उसी प्रकार विषय और कर्मोंसे आसक्त हुआ मन तरह-तरहकी वृत्तियोंका आश्रय लिये रहता है और इनसे मुक्त होनेपर वह अपने तत्त्वमें लीन हो जाता है ॥ ८ ॥

एकादशासन्मनसो हि वृत्तय
 आकृतयः पञ्च धियोऽभिमानः ।
 मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां
 वदन्ति हैकादश वीर भूमीः ॥ ९ ॥

वीरवर! पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक अहंकार—ये ग्यारह मनकी वृत्तियाँ हैं तथा पाँच प्रकारके कर्म, पाँच तन्मात्र और एक शरीर—ये ग्यारह उनके आधारभूत विषय कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि

विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।

एकादशं स्वीकरणं ममेति
 शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥ १० ॥

गन्ध, रूप, स्पर्श, रस और शब्द—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय

हैं; मलत्याग, सम्भोग, गमन, भाषण और लेना-देना आदि व्यापार—
ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं तथा शरीरको 'यह मेरा है' इस प्रकार
स्वीकार करना अहंकारका विषय है। कुछ लोग अहंकारको मनकी
बारहवीं वृत्ति और उसके आश्रय शरीरको बारहवाँ विषय मानते हैं ॥ १० ॥

द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-

रेकादशामी मनसो विकाराः ।

सहस्रशः शतशः कोटिशश्च

क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥ ११ ॥

ये मनकी ग्यारह वृत्तियाँ द्रव्य (विषय), स्वभाव, आशय
(संस्कार), कर्म और कालके द्वारा सैकड़ों, हजारों और करोड़ों भेदोंमें
परिणत हो जाती हैं। किन्तु इनकी सत्ता क्षेत्रज्ञ आत्माकी सत्तासे ही
है, स्वतः या परस्पर मिलकर नहीं है ॥ ११ ॥

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-

जीवस्य मायारचितस्य नित्याः ।

आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च

शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः ॥ १२ ॥

ऐसा होनेपर भी मनसे क्षेत्रज्ञका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो
जीवकी ही मायानिर्मित उपाधि है। यह प्रायः संसारबन्धनमें डालनेवाले
अविशुद्ध कर्मोंमें ही प्रवृत्त रहता है। इसकी उपर्युक्त वृत्तियाँ प्रवाहरूपसे
नित्य ही रहती हैं; जाग्रत् और स्वप्नके समय वे प्रकट हो जाती
हैं और सुषुप्तिमें छिप जाती हैं। इन दोनों ही अवस्थाओंमें क्षेत्रज्ञ,
जो विशुद्ध चिन्मात्र है, मनकी इन वृत्तियोंको साक्षीरूपसे देखता रहता
है ॥ १२ ॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः

साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः ।

नारायणो

भगवान्

वासुदेवः

स्वमाययात्मन्यवधीयमानः

॥ १३ ॥

यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा सर्वव्यापक, जगत्का आदिकारण, परिपूर्ण, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश, अजन्मा, ब्रह्मादिका भी नियन्ता और अपने अधीन रहनेवाली मायाके द्वारा सबके अन्तःकरणोंमें रहकर जीवोंको प्रेरित करनेवाला समस्त भूतोंका आश्रयरूप भगवान् वासुदेव है ॥ १३ ॥

यथानिलः

स्थावरजङ्गमाना-

मात्मस्वरूपेण

निविष्ट

ईशेत् ।

एवं

परो

भगवान्

वासुदेवः

क्षेत्रज्ञ

आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥ १४ ॥

जिस प्रकार वायु सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियोंमें प्राणरूपसे प्रविष्ट होकर उन्हें प्रेरित करती है, उसी प्रकार वह परमेश्वर भगवान् वासुदेव सर्वसाक्षी आत्मस्वरूपसे इस सम्पूर्ण प्रपंचमें ओतप्रोत है ॥ १४ ॥

न

यावदेतां

तनुभृन्नेन्द्र

विधूय

मायां

वयुनोदयेन ।

विमुक्तसङ्गो

जितषट्सपत्नो

वेदात्मतत्त्वं

भ्रमतीह

तावत् ॥ १५ ॥

न

यावदेतन्मन

आत्मलिङ्गं

संसारतापावपनं

जनस्य ।

यच्छोकमोहामयरागलोभ-

वैरानुबन्धं

ममतां

विधत्ते ॥ १६ ॥

राजन्! जबतक मनुष्य ज्ञानोदयके द्वारा इस मायाका तिरस्कार कर, सबकी आसक्ति छोड़कर तथा काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको जीतकर आत्मतत्त्वको नहीं जान लेता और जबतक वह आत्माके उपाधिरूप मनको संसारदुःखका क्षेत्र नहीं समझता, तबतक वह इस

लोकमें यों ही भटकता रहता है; क्योंकि यह चित्त उसके शोक, मोह, रोग, राग, लोभ और वैर आदिके संस्कार तथा ममताकी वृद्धि करता रहता है ॥ १५-१६ ॥

भ्रातृव्यमेनं

तददभ्रवीर्य-

मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः

।

गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो

जहि

व्यलीकं

स्वयमात्ममोषम् ॥ १७ ॥

यह मन ही तुम्हारा बड़ा बलवान् शत्रु है। तुम्हारे उपेक्षा करनेसे इसकी शक्ति और भी बढ़ गयी है। यह यद्यपि स्वयं तो सर्वथा मिथ्या है तथापि इसने तुम्हारे आत्मस्वरूपको आच्छादित कर रखा है। इसलिये तुम सावधान होकर श्रीगुरु और हरिके चरणोंकी उपासनाके अस्त्रसे इसे मार डालो ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसगीतायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

रहूगणका प्रश्न और भरतजीका समाधान

रहूगण उवाच

नमो

नमः

कारणविग्रहाय

स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय

।

नमोऽवधूत

द्विजबन्धुलिङ्ग-

निगूढनित्यानुभवाय

तुभ्यम् ॥ १ ॥

राजा रहूगणने कहा—हे योगेश्वर! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपने जगत्का उद्धार करनेके लिये ही यह देह धारण की है। अपने परमानन्दमय स्वरूपका अनुभव करके आप इस स्थूलशरीरसे

उदासीन हो गये हैं तथा एक जड ब्राह्मणके वेषसे अपने नित्यज्ञानमय स्वरूपको जनसाधारणकी दृष्टिसे ओझल किये हुए हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ १ ॥

ज्वरामयार्तस्य यथागदं सत्
निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः ।

कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टे-

ब्रह्मन् वचस्तेऽमृतमौषधं मे ॥ २ ॥

हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार ज्वरसे पीड़ित रोगीके लिये मीठी ओषधि और धूपसे तपे हुए पुरुषके लिये शीतल जल अमृततुल्य होता है, उसी प्रकार मेरे लिये, जिसकी विवेकबुद्धिको देहाभिमानरूप विषैले सर्पने डस लिया है, आपके वचन अमृतमय ओषधिके समान हैं ॥ २ ॥

तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं
प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम् ।

अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्त-

माख्याहि कौतूहलचेतसो मे ॥ ३ ॥

इसलिये मैं आपसे अपने संशयोंकी निवृत्ति तो पीछे कराऊँगा। पहले तो इस समय आपने जो अध्यात्मयोगमय उपदेश दिया है, उसीको सरल करके समझाइये, उसे समझनेकी मुझे बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ३ ॥

यदाह योगेश्वर दृश्यमानं
क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम् ।

न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय
भवानमुष्मिन् भ्रमते मनो मे ॥ ४ ॥

हे योगेश्वर! आपने जो यह कहा कि भार उठानेकी क्रिया तथा उससे जो श्रमरूप फल होता है, वे दोनों ही प्रत्यक्ष होनेपर भी केवल व्यवहारमूलके ही हैं, वास्तवमें सत्य नहीं हैं—वे तत्त्वविचारके सामने

कुछ भी नहीं ठहरते—सो इस विषयमें मेरा मन चक्कर खा रहा है, आपके इस कथनका मर्म मेरी समझमें नहीं आ रहा है ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः ।
तस्यापि चाङ्घ्रयोरधि गुल्फजङ्घा-
जानूरुमध्योरशिरोधरांसाः ॥ ५ ॥

जडभरतने कहा—हे पृथ्वीपते! यह देह पृथ्वीका विकार है, पाषाणादिसे इसका क्या भेद है? जब यह किसी कारणसे पृथ्वीपर चलने लगता है, तब इसके भारवाही आदि नाम पड़ जाते हैं। इसके दो चरण हैं; उनके ऊपर क्रमशः टखने, पिंडली, घुटने, जाँघ, कमर, वक्षःस्थल, गर्दन और कंधे आदि अंग हैं ॥ ५ ॥

अंसेऽधि दार्वी शिबिका च यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते ।
यस्मिन् भवान् रूढनिजाभिमानो
राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः ॥ ६ ॥

कंधोंके ऊपर लकड़ीकी पालकी रखी हुई है; उसमें भी सौवीरराज नामका एक पार्थिव विकार ही है, जिसमें आत्मबुद्धिरूप अभिमान करनेसे तुम 'मैं सिन्धुदेशका राजा हूँ' इस प्रबल मदसे अंधे हो रहे हो ॥ ६ ॥

शोच्यानिमांस्त्वमधिकष्टदीनान्
विष्ट्या निगृह्णन्निरनुग्रहोऽसि ।
जनस्य गोप्तास्मि विकथ्यमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः ॥ ७ ॥

किन्तु इसीसे तुम्हारी कोई श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती, वास्तवमें तो तुम बड़े क्रूर और धृष्ट ही हो। तुमने इन बेचारे दीन-दुखिया

कहारोंको बेगारमें पकड़कर पालकीमें जोत रखा है और फिर महापुरुषोंकी सभामें बढ़-बढ़कर बातें बनाते हो कि मैं लोकोंकी रक्षा करनेवाला हूँ। यह तुम्हें शोभा नहीं देता ॥ ७ ॥

यदा क्षितावेव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम्।
तन्नामतोऽन्यद् व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम् ॥ ८ ॥

हम देखते हैं कि सम्पूर्ण चराचर भूत सर्वदा पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीमें ही लीन होते हैं; अतः उनके क्रियाभेदके कारण जो अलग-अलग नाम पड़ गये हैं—बताओ तो, उनके सिवा व्यवहारका और क्या मूल है? ॥ ८ ॥

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात्परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः ॥ ९ ॥

इस प्रकार 'पृथ्वी' शब्दका व्यवहार भी मिथ्या ही है; वास्तविक नहीं है; क्योंकि यह अपने उपादानकारण सूक्ष्म परमाणुओंमें लीन हो जाती है। और जिनके मिलनेसे पृथ्वीरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वे परमाणु अविद्यावश मनसे ही कल्पना किये हुए हैं। वास्तवमें उनकी भी सत्ता नहीं है ॥ ९ ॥

एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्यद्
असच्च सज्जीवमजीवमन्यत्।

द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-

नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम् ॥ १० ॥

इसी प्रकार और भी जो कुछ पतला-मोटा, छोटा-बड़ा, कार्य-

कारण तथा चेतन और अचेतन आदि गुणोंसे युक्त द्वैत-प्रपंच है—
उसे भी द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल और कर्म आदि नामोंवाली
भगवान्की मायाका ही कार्य समझो ॥ १० ॥

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥ ११ ॥

विशुद्ध परमार्थरूप, अद्वितीय तथा भीतर-बाहरके भेदसे रहित
परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तर्वर्ती और सर्वथा निर्विकार
है। उसीका नाम 'भगवान्' है और उसीको पण्डितजन 'वासुदेव' कहते
हैं ॥ ११ ॥

रहूणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥ १२ ॥

हे रहूण! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिसे अपनेको नहलाये बिना
केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथिसेवा, दीनसेवा
आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी
उपासना आदि किसी भी साधनसे यह परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो
सकता ॥ १२ ॥

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः

प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः ।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥ १३ ॥

इसका कारण यह है कि महापुरुषोंके समाजमें सदा पवित्रकीर्ति

श्रीहरिके गुणोंकी चर्चा होती रहती है, जिससे विषयवार्ता तो पास ही नहीं फटकने पाती। और जब भगवत्कथाका नित्यप्रति सेवन किया जाता है, तब वह मोक्षाकांक्षी पुरुषकी शुद्ध बुद्धिको भगवान् वासुदेवमें लगा देती है ॥ १३ ॥

अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥ १४ ॥

पूर्वजन्ममें मैं भरत नामका राजा था। ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके विषयोंसे विरक्त होकर भगवान्की आराधनामें ही लगा रहता था; तो भी एक मृगमें आसक्ति हो जानेसे मुझे परमार्थसे भ्रष्ट होकर अगले जन्ममें मृग बनना पड़ा ॥ १४ ॥

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति ।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥ १५ ॥

हे वीर! भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनाके प्रभावसे उस मृगयोनिमें भी मेरी पूर्वजन्मकी स्मृति लुप्त नहीं हुई। इसीसे अब मैं जनसंसर्गसे डरकर सर्वदा असंगभावसे गुप्तरूपसे ही विचरता रहता हूँ ॥ १५ ॥

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनेहैव विवृक्वामोहः ।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥ १६ ॥

इसलिये विरक्त महापुरुषोंके सत्संगसे प्राप्त ज्ञानरूप खड्गके द्वारा मनुष्यको इस लोकमें ही अपने मोहबन्धनको काट डालना चाहिये।

फिर श्रीहरिकी लीलाओंके कथन और श्रवणसे भगवत्स्मृति बनी रहनेके कारण वह सुगमतासे ही संसारमार्गको पार करके भगवान्को प्राप्त कर सकता है ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसगीतायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

भवाटवीका वर्णन और रहूणका संशयनाश

ब्राह्मण उवाच

दुरत्ययेऽध्वन्यजया

निवेशितो

रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।

स

एष

सार्थोऽर्थपरः

परिभ्रमन्

भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥ १ ॥

जडभरतने कहा—[राजन्!] यह जीवसमूह सुखरूप धनमें आसक्त देश-देशान्तरमें घूम-फिरकर व्यापार करनेवाले व्यापारियोंके दलके समान है। इसे मायाने दुस्तर प्रवृत्तिमार्गमें लगा दिया है; इसलिये इसकी दृष्टि सात्त्विक, राजस, तामस भेदसे नाना प्रकारके कर्मोंपर ही जाती है। उन कर्मोंमें भटकता-भटकता यह संसाररूप जंगलमें पहुँच जाता है। वहाँ इसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती ॥ १ ॥

यस्यामिमे

षण्णरदेव

दस्यवः

सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात्।

गोमायवो

यत्र

हरन्ति

सार्थिकं

प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः ॥ २ ॥

महाराज! उस जंगलमें छः डाकू हैं। इस वणिक्-समाजका नायक बड़ा दुष्ट है। उसके नेतृत्वमें जब यह वहाँ पहुँचता है, तब ये लुटेरे बलात्

इसका सब माल-मत्ता लूट लेते हैं तथा भेड़िये जिस प्रकार भेड़ोंके झुंडमें घुसकर उन्हें खींच ले जाते हैं, उसी प्रकार इसके साथ रहनेवाले गीदड़ ही इसे असावधान देखकर इसके धनको इधर-उधर खींचने लगते हैं ॥ २ ॥

प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे

कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।

क्वचित्तु

गन्धर्वपुरं

प्रपश्यति

क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥ ३ ॥

वह जंगल बहुत-सी लता, घास और झाड़-झंखाड़के कारण बहुत दुर्गम हो रहा है। उसमें तीव्र डाँस और मच्छर इसे चैन नहीं लेने देते। वहाँ इसे कभी तो गन्धर्वनगर दीखने लगता है और कभी-कभी चमचमाता हुआ अति चंचल अगिया-बेताल आँखोंके सामने आ जाता है ॥ ३ ॥

निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-

स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम्।

क्वचिच्च

वात्योत्थितपांसुधूम्रा

दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥ ४ ॥

यह वणिक्-समुदाय इस वनमें निवासस्थान, जल और धनादिमें आसक्त होकर इधर-उधर भटकता रहता है। कभी बवंडरसे उठी हुई धूलके द्वारा जब सारी दिशाएँ धूमाच्छादित-सी हो जाती हैं और इसकी आँखोंमें भी धूल भर जाती है तो इसे दिशाओंका ज्ञान भी नहीं रहता ॥ ४ ॥

अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल

उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा ।

अपुण्यवृक्षान्

श्रयते

क्षुधादितो

मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥ ५ ॥

कभी इसे दिखायी न देनेवाले झींगुरोंका कर्णकटु शब्द सुनायी

देता है, कभी उल्लुओंकी बोलीसे इसका चित्त व्यथित हो जाता है। कभी इसे भूख सताने लगती है तो यह निन्दनीय वृक्षोंका ही सहारा टटोलने लगता है और कभी प्याससे व्याकुल होकर मृगतृष्णाकी ओर दौड़ लगाता है ॥ ५ ॥

क्वचिद्वितोयाः

सरितोऽभियाति

परस्परं

चालषते

निरन्धः ।

आसाद्य

दावं

क्वचिदग्नितप्तो

निर्विद्यते

क्व

च

यक्षैर्हतासुः ॥ ६ ॥

कभी जलहीन नदियोंकी ओर जाता है, कभी अन्न न मिलनेपर आपसमें एक-दूसरेसे भोजनप्राप्तिकी इच्छा करता है, कभी दावानलमें घुसकर अग्निसे झुलस जाता है और कभी यक्षलोग इसके प्राण खींचने लगते हैं तो यह खिन्न होने लगता है ॥ ६ ॥

शूरैर्हृतस्वः

क्व

च

निर्विण्णचेताः

शोचन्

विमुह्यन्नुपयाति

कश्मलम् ।

क्वचिच्च

गन्धर्वपुरं

प्रविष्टः

प्रमोदते

निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥ ७ ॥

कभी अपनेसे अधिक बलवान् लोग इसका धन छीन लेते हैं तो यह दुःखी होकर शोक और मोहसे अचेत हो जाता है और कभी गन्धर्वनगरमें पहुँचकर घड़ीभरके लिये सब दुःख भूलकर खुशी मनाने लगता है ॥ ७ ॥

चलन्

क्वचित्कण्टकशर्कराङ्घ्रि-

नंगारुरुक्षुर्विमना

इवास्ते ।

पदे

पदेऽभ्यन्तरवह्निनार्दितः

कौटुम्बिकः

क्रुध्यति

वै

जनाय ॥ ८ ॥

कभी पर्वतोंपर चढ़ना चाहता है तो काँटे और कंकड़ोंद्वारा पैर

चलनी हो जानेसे उदास हो जाता है। कुटुम्ब बहुत बढ़ जाता है और उदरपूर्तिका साधन नहीं होता तो भूखकी ज्वालासे सन्तप्त होकर अपने ही बन्धु-बान्धवोंपर खीझने लगता है ॥ ८ ॥

क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना

जनो

नावैति

किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः ।

दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकै-

रन्ध्रोऽन्धकूपे

पतितस्तमिस्रे ॥ ९ ॥

कभी अजगर सर्पका ग्रास बनकर वनमें फेंके हुए मुर्देके समान पड़ा रहता है। उस समय इसे कोई सुध-बुध नहीं रहती। कभी दूसरे विषैले जन्तु इसे काटने लगते हैं तो उनके विषके प्रभावसे अन्धा होकर किसी अन्धे कुएँमें गिर पड़ता है और घोर दुःखमय अन्धकारमें बेहोश पड़ा रहता है ॥ ९ ॥

कर्हि स्म चित्क्षुद्ररसान् विचिन्वं-

स्तन्मक्षिकाभिव्यथितो

विमानः ।

तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो

बलाद्विलुम्पन्त्यथ

तं

ततोऽन्ये ॥ १० ॥

कभी मधु खोजने लगता है तो मक्खियाँ इसके नाकमें दम कर देती हैं और इसका सारा अभिमान नष्ट हो जाता है। यदि किसी प्रकार अनेकों कठिनाइयोंका सामना करके वह मिल भी गया तो बलात् दूसरे लोग उसे छीन लेते हैं ॥ १० ॥

क्वचिच्च

शीतातपवातवर्ष-

प्रतिक्रियां

कर्तुमनीश

आस्ते ।

क्वचिन्मिथो

विपणन्

यच्च

किञ्चिद्

विद्वेषमृच्छत्युत

वित्तशाठ्यात् ॥ ११ ॥

कभी शीत, घाम, आँधी और वर्षासे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ

हो जाता है। कभी आपसमें थोड़ा-बहुत व्यापार करता है तो धनके लोभसे दूसरोंको धोखा देकर उनसे वैर ठान लेता है ॥ ११ ॥

क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु

तस्मिन्

शय्यासनस्थानविहारहीनः

।

याचन्

परादप्रतिलब्धकामः

पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम्

॥ १२ ॥

कभी-कभी उस संसारवनमें इसका धन नष्ट हो जाता है तो इसके पास शय्या, आसन, रहनेके लिये स्थान और सैर-सपाटेके लिये सवारी आदि भी नहीं रहते। तब दूसरोंसे याचना करता है; माँगनेपर भी दूसरेसे जब उसे अभिलषित वस्तु नहीं मिलती, तब परायी वस्तुओंपर अनुचित दृष्टि रखनेके कारण इसे बड़ा तिरस्कार सहना पड़ता है ॥ १२ ॥

अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-

वैरानुबन्धो

विवहन्मिथश्च ।

अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-

बाधोपसर्गैर्विहरन्

विपन्नः ॥ १३ ॥

इस प्रकार व्यावहारिक सम्बन्धके कारण एक-दूसरेसे द्वेषभाव बढ़ जानेपर भी वह वणिक्-समूह आपसमें विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करता है और फिर इस मार्गमें तरह-तरहके कष्ट और धनक्षय आदि संकटोंको भोगते-भोगते मृतकवत् हो जाता है ॥ १३ ॥

तांस्तान् विपन्नान् स हि तत्र तत्र

विहाय जातं

परिगृह्य

सार्थः ।

आवर्ततेऽद्यापि

न

कश्चिदत्र

वीराध्वनः

पारमुपैति

योगम् ॥ १४ ॥

हे वीरवर! साथियोंमेंसे जो-जो मरते जाते हैं, उन्हें जहाँ-का-तहाँ छोड़कर नवीन उत्पन्न हुआओंको साथ लिये वह बनजारोंका समूह

बराबर आगे ही बढ़ता रहता है। उनमेंसे कोई भी प्राणी न तो आजतक वापस लौटा है और न किसीने इस संकटपूर्ण मार्गको पार करके परमानन्दमय योगकी ही शरण ली है॥ १४॥

मनस्विनो

निर्जितदिग्गजेन्द्रा

ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः ।
मृधे शयीरन्न तु तद्व्रजन्ति
यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति ॥ १५ ॥

जिन्होंने बड़े-बड़े दिक्पालोंको जीत लिया है, वे धीर-वीर पुरुष भी पृथ्वीमें 'यह मेरी है' ऐसा अभिमान करके आपसमें वैर ठानकर संग्रामभूमिमें जूझ जाते हैं तो भी उन्हें भगवान् विष्णुका वह अविनाशी पद नहीं मिलता, जो वैरहीन परमहंसोंको प्राप्त होता है॥ १५॥

प्रसज्जति

क्वापि

लताभुजाश्रय-

स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः

।

क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन्

सख्यं

विधत्ते

बककङ्कगृध्रैः ॥ १६ ॥

इस भवाटवीमें भटकनेवाला यह बनिजारोंका दल कभी किसी लताकी डालियोंका आश्रय लेता है और उसपर रहनेवाले मधुरभाषी पक्षियोंके मोहमें फँस जाता है। कभी सिंहोंके समूहसे भय मानकर बगुला, कंक और गिद्धोंसे प्रीति करता है॥ १६॥

तैर्वज्जितो

हंसकुलं

समाविश-

नरोचयन्

शीलमुपैति

वानरान् ।

तज्जातिरासेन

सुनिर्वृतेन्द्रियः

परस्परोद्दीक्षणविस्मृतावधिः

॥ १७ ॥

जब उनसे धोखा उठाता है, तब हंसोंकी पंक्तिमें प्रवेश करना चाहता है; किन्तु उसे उनका आचार नहीं सुहाता, इसलिये

वानरोंमें मिलकर उनके जातिस्वभावके अनुसार दाम्पत्य सुखमें रत रहकर विषयभोगोंसे इन्द्रियोंको तृप्त करता रहता है और एक-दूसरेका मुख देखते-देखते अपनी आयुकी अवधिको भूल जाता है ॥ १७ ॥

द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने ।
क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥ १८ ॥

वहाँ वृक्षोंमें क्रीडा करता हुआ पुत्र और स्त्रीके स्नेहपाशमें बँध जाता है। इसमें मैथुनकी वासना इतनी बढ़ जाती है कि तरह-तरहके दुर्व्यवहारोंसे दीन होनेपर भी यह विवश होकर अपने बन्धनको तोड़नेका साहस नहीं कर सकता। कभी असावधानीसे पर्वतकी गुफामें गिरने लगता है तो उसमें रहनेवाले हाथीसे डरकर किसी लताके सहारे लटका रहता है ॥ १८ ॥

अतः कथञ्चित्स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम ।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो
भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥ १९ ॥

शत्रुदमन! यदि किसी प्रकार इसे उस आपत्तिसे छुटकारा मिल जाता है तो यह फिर अपने गोलमें मिल जाता है। जो मनुष्य मायाकी प्रेरणासे एक बार इस मार्गमें पहुँच जाता है, उसे भटकते-भटकते अन्ततक अपने परम पुरुषार्थका पता नहीं लगता ॥ १९ ॥

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।

असज्जितात्मा हरिसेवया शितं
ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥ २० ॥

रहूण! तुम भी इसी मार्गमें भटक रहे हो, इसलिये अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद् हो जाओ और विषयोंमें अनासक्त होकर भगवत्सेवासे तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूप खड्ग लेकर इस मार्गको पार कर लो ॥ २० ॥

राजोवाच

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन् ।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां
महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥ २१ ॥

राजा रहूणने कहा—अहो! समस्त योनियोंमें यह मनुष्य-जन्म ही श्रेष्ठ है। अन्यान्य लोकोंमें प्राप्त होनेवाले देवादि उत्कृष्ट जन्मोंसे भी क्या लाभ है, जहाँ भगवान् हृषीकेशके पवित्र यशसे शुद्ध अन्तःकरणवाले आप-जैसे महात्माओंका अधिकाधिक समागम नहीं मिलता ॥ २१ ॥

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।

मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥ २२ ॥

आपके चरणकमलोंकी रजका सेवन करनेसे जिनके सारे पाप-ताप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावोंको भगवान्की विशुद्ध भक्ति प्राप्त होना कोई विचित्र बात नहीं है। मेरा तो आपके दो घड़ीके सत्संगसे ही सारा कुतर्कमूलक अज्ञान नष्ट हो गया है ॥ २२ ॥

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
नमो युवभ्यो नम आ वटुभ्यः ।

ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-

श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ॥ २३ ॥

ब्रह्मज्ञानियोंमें जो वयोवृद्ध हों, उन्हें नमस्कार है; जो शिशु हों, उन्हें नमस्कार है; जो युवा हों, उन्हें नमस्कार है और जो क्रीडारत बालक हों, उन्हें भी नमस्कार है। जो ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण अवधूतवेषसे पृथ्वीपर विचरते हैं, उनसे हम-जैसे ऐश्वर्योन्मत्त राजाओंका कल्याण हो ॥ २३ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्व विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरण आपूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार ॥ २४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—उत्तरानन्दन! इस प्रकार उन परम प्रभावशाली ब्रह्मर्षिपुत्रने अपना अपमान करनेवाले सिन्धुनरेश रहूगणको भी अत्यन्त करुणावश आत्मतत्त्वका उपदेश दिया। तब राजा रहूगणने दीनभावसे उनके चरणोंकी वन्दना की। फिर वे परिपूर्ण समुद्रके समान शान्तचित्त और उपरतेन्द्रिय होकर पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ २४ ॥

सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज। एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः ॥ २५ ॥

उनके सत्संगसे परमात्मतत्त्वका ज्ञान पाकर सौवीरपति रहूगणने भी अन्तःकरणमें अविद्यावश आरोपित देहात्मबुद्धिको त्याग दिया। राजन्! जो लोग भगवदाश्रित अनन्य भक्तोंकी शरण ले लेते हैं, उनका ऐसा ही प्रभाव होता है—उनके पास अविद्या ठहर नहीं सकती ॥ २५ ॥

राजोवाच

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः । अथ तदेवैतदुरवगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति ॥ २६ ॥

राजा परीक्षितने कहा—[महाभागवत मुनिश्रेष्ठ!] आप परम विद्वान् हैं। आपने रूपकादिके द्वारा अप्रत्यक्षरूपसे जीवोंके जिस संसाररूप मार्गका वर्णन किया है, उस विषयकी कल्पना विवेकी पुरुषोंकी बुद्धिने की है; वह अल्पबुद्धिवाले पुरुषोंकी समझमें सुगमतासे नहीं आ सकता। अतः मेरी प्रार्थना है कि इस दुर्बोध विषयको रूपकका स्पष्टीकरण करनेवाले शब्दोंसे खोलकर समझाइये ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसगीतायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

भवाटवीका स्पष्टीकरण

स होवाच

य एष देहात्ममानिनां सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पित-कुशलाकुशलसमवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोग-संयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन्दुर्गाध्ववदसुगमेऽध्वन्यापतित ईश्वरस्य भगवतो विष्णो-र्वशवर्तिन्या मायया जीवलोकोऽयं यथा वणिक्सारथोऽर्थपरः स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभवः श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तत्तापोपशमनीं हरिगुरु-चरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे यस्यामु ह वा एते

षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! देहाभिमानी जीवोंके द्वारा सत्त्वादि गुणोंके भेदसे शुभ, अशुभ और मिश्र—तीन प्रकारके कर्म होते रहते हैं। उन कर्मोंके द्वारा ही निर्मित नाना प्रकारके शरीरोंके साथ होनेवाला जो संयोग-वियोगादिरूप अनादि संसार जीवको प्राप्त होता है, उसके अनुभवके छः द्वार हैं—मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। उनसे विवश होकर यह जीवसमूह मार्ग भूलकर भयंकर वनमें भटकते हुए धनके लोभी बनजारोंके समान परमसमर्थ भगवान् विष्णुके आश्रित रहनेवाली मायाकी प्रेरणासे बीहड़ वनके समान दुर्गम मार्गमें पड़कर संसार-वनमें जा पहुँचता है। यह वन श्मशानके समान अत्यन्त अशुभ है। इसमें भटकते हुए उसे अपने शरीरसे किये हुए कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। यहाँ अनेकों विघ्नोंके कारण उसे अपने व्यापारमें सफलता भी नहीं मिलती तो भी यह उसके श्रमको शान्त करनेवाले श्रीहरि एवं गुरुदेवके चरणारविन्द-मकरन्द-मधुके रसिक भक्त-भ्रमरोंके मार्गका अनुसरण नहीं करता। इस संसारवनमें मनसहित छः इन्द्रियाँ ही अपने कर्मोंकी दृष्टिसे डाकुओंके समान हैं ॥ १ ॥

तद्यथा पुरुषस्य धनं यत्किञ्चिद्धर्मौपयिकं बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात्परमपुरुषाराधनलक्षणो योऽसौ धर्मस्तं तु साम्पराय उदाहरन्ति । तद्धर्म्यं धनं दर्शनस्पर्शनश्रवणास्वादनावघ्राणसङ्कल्प-व्यवसायगृहग्राम्योपभोगेन कुनाथस्याजितात्मनो यथा सार्थस्य विलुम्पन्ति ॥ २ ॥

पुरुष बहुत-सा कष्ट उठाकर जो धन कमाता है, उसका उपयोग धर्ममें होना चाहिये; वही धर्म यदि साक्षात् भगवान् परमपुरुषकी आराधनाके रूपमें होता है तो उसे परलोकमें निःश्रेयसका हेतु बतलाया गया है। किन्तु जिस मनुष्यका बुद्धिरूप सारथि विवेकहीन होता है

और मन वशमें नहीं होता, उसके उस धर्मोपयोगी धनको ये मनसहित छः इन्द्रियाँ देखना, स्पर्श करना, सुनना, स्वाद लेना, सूँघना, संकल्प-विकल्प करना और निश्चय करना—इन वृत्तियोंके द्वारा गृहस्थोचित विषयभोगोंमें फँसाकर उसी प्रकार लूट लेती हैं, जिस प्रकार बेईमान मुखियाका अनुगमन करनेवाले एवं असावधान बनजारोंके दलका धन चोर-डाकू लूट ले जाते हैं ॥ २ ॥

अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृक्सृगाला एवानिच्छतोऽपि कदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपि हरन्ति ॥ ३ ॥

ये ही नहीं, उस संसार-वनमें रहनेवाले उसके कुटुम्बी भी—जो नामसे तो स्त्री-पुत्रादि कहे जाते हैं, किन्तु कर्म जिनके साक्षात् भेड़ियों और गीदड़ोंके समान होते हैं—उस अर्थलोलुप कुटुम्बीके धनको उसकी इच्छा न रहनेपर भी उसके देखते-देखते इस प्रकार छीन ले जाते हैं, जैसे भेड़िये गड़रियोंसे सुरक्षित भेड़ोंको उठा ले जाते हैं ॥ ३ ॥

यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपन-काले गुल्मतृणवीरुद्भिर्गह्वरमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन्न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार यदि किसी खेतके बीजोंको अग्निद्वारा जला न दिया गया हो तो प्रतिवर्ष जोतनेपर भी खेतीका समय आनेपर वह फिर झाड़-झंखाड़, लता और तृण आदिसे गहन हो जाता है—उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम भी कर्मभूमि है, इसमें भी कर्मोंका सर्वथा उच्छेद कभी नहीं होता; क्योंकि यह घर कामनाओंकी पिटारी है ॥ ४ ॥

तत्र गतो दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्कर-मूषकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः क्वचित् परिवर्तमानोऽस्मिन्-

ध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्व-
नगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति ॥ ५ ॥

उस गृहस्थाश्रममें आसक्त हुए व्यक्तिके धनरूप बाहरी प्राणोंको डाँस और मच्छरोंके समान नीच पुरुषोंसे तथा टिड्डी, पक्षी, चोर और चूहे आदिसे क्षति पहुँचती रहती है। कभी इस मार्गमें भटकते-भटकते यह अविद्या, कामना और कर्मोंसे कलुषित हुए अपने चित्तसे दृष्टिदोषके कारण इस मर्त्यलोकको, जो गन्धर्वनगरके समान असत् है, सत्य समझने लगता है ॥ ५ ॥

तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान् विषयानुपधावति
पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः ॥ ६ ॥

फिर खान-पान और स्त्री-प्रसंगादि व्यसनोमें फँसकर मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ने लगता है ॥ ६ ॥

क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुण-
निर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुक-
पिशाचम् ॥ ७ ॥

कभी बुद्धिके रजोगुणसे प्रभावित होनेपर सारे अनर्थोंकी जड़ अग्निके मलरूप सोनेको ही सुखका साधन समझकर उसे पानेके लिये लालायित हो इस प्रकार दौड़-धूप करने लगता है, जैसे वनमें जाड़ेसे ठिठुरता हुआ पुरुष अग्निके लिये व्याकुल होकर उल्मुक-पिशाचकी (अगिया-बेतालकी) ओर उसे आग समझकर दौड़े ॥ ७ ॥

अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मो-
पजीवनाभिनिवेश एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततः परि-
धावति ॥ ८ ॥

कभी इस शरीरको जीवित रखनेवाले घर, अन्न-जल और धन आदिमें अभिनिवेश करके इस संसारारण्यमें इधर-उधर दौड़-धूप करता

रहता है ॥ ८ ॥

**क्वचिच्च वात्यौपम्यया प्रमदयारोहमारोपितस्तत्कालरजसा
रजनीभूत इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता
अतिरजस्वलमतिर्न विजानाति ॥ ९ ॥**

कभी बवंडरके समान आँखोंमें धूल झोंक देनेवाली स्त्री गोदमें बैठा लेती है तो तत्काल रागान्ध-सा होकर सत्पुरुषोंकी मर्यादाका भी विचार नहीं करता। उस समय नेत्रोंमें रजोगुणकी धूल भर जानेसे बुद्धि ऐसी मलिन हो जाती है कि अपने कर्मोंके साक्षी दिशाओंके देवताओंको भी भुला देता है ॥ ९ ॥

**क्वचित्सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिध्यानेन
विभ्रंशितस्मृतिस्तथैव मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति ॥ १० ॥**

कभी अपने-आप ही एकाध बार विषयोंका मिथ्यात्व जान लेनेपर भी अनादिकालसे देहमें आत्मबुद्धि रहनेसे विवेक-बुद्धि नष्ट हो जानेके कारण उन मरुमरीचिकातुल्य विषयोंकी ओर ही फिर दौड़ने लगता है ॥ १० ॥

**क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं प्रत्यक्षं परोक्षं
वा रिपुराजकुलनिर्भर्त्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदयः ॥ ११ ॥**

कभी प्रत्यक्ष शब्द करनेवाले उल्लूके समान शत्रुओंकी और परोक्षरूपसे बोलनेवाले झींगुरोंके समान राजाकी अति कठोर एवं दिलको दहला देनेवाली डरावनी डाँट-डपटसे इसके कान और मनको बड़ी व्यथा होती है ॥ ११ ॥

**स यदा दुग्धपूर्वसुकृतस्तदा कारस्करकाकतुण्डाद्यपुण्य-
द्रुमलताविषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणाञ्जीवन्मृतान् स्वयं
जीवन्म्रियमाण उपधावति ॥ १२ ॥**

पूर्वपुण्य क्षीण हो जानेपर यह जीवित ही मुर्देके समान हो

जाता है; और जो कारस्कर एवं काकतुण्ड आदि जहरीले फलोंवाले पापवृक्षों, इसी प्रकारकी दूषित लताओं और विषैले कुओंके समान हैं तथा जिनका धन इस लोक और परलोक दोनोंके ही काममें नहीं आता और जो जीते हुए भी मुर्देके समान हैं—उन कृपण पुरुषोंका आश्रय लेता है ॥ १२ ॥

**एकदासत्प्रसङ्गान्निकृतमतिर्व्युदकस्रोतः स्खलनवदुभय-
तोऽपि दुःखदं पाखण्डमभियाति ॥ १३ ॥**

कभी असत् पुरुषोंके संगसे बुद्धि बिगड़ जानेके कारण सूखी नदीमें गिरकर दुःखी होनेके समान इस लोक और परलोकमें दुःख देनेवाले पाखण्डमें फँस जाता है ॥ १३ ॥

**यदा तु परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि
पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान् वा स खलु भक्षयति ॥ १४ ॥**

जब दूसरोंको सतानेसे उसे अन्न भी नहीं मिलता, तब वह अपने सगे पिता-पुत्रोंको अथवा पिता या पुत्र आदिका एक तिनका भी जिनके पास देखता है, उनको फाड़ खानेके लिये तैयार हो जाता है ॥ १४ ॥

**क्वचिदासाद्य गृहं दाववत्प्रियार्थविधुरमसुखोदर्यं
शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति ॥ १५ ॥**

कभी दावानलके समान प्रिय विषयोंसे शून्य एवं परिणाममें दुःखमय घरमें पहुँचता है तो वहाँ इष्टजनोंके वियोगादिसे उसके शोककी आग भड़क उठती है; उससे सन्तप्त होकर वह बहुत ही खिन्न होने लगता है ॥ १५ ॥

**क्वचित्कालविषमितराजकुलरक्षसापहतप्रियतमधनासुःप्रमृ-
तक इव विगतजीवलक्षण आस्ते ॥ १६ ॥**

कभी कालके समान भयंकर राजकुलरूप राक्षस इसके परम प्रिय

धनरूप प्राणोंको हर लेता है तो यह मरे हुएके समान निर्जीव हो जाता है ॥ १६ ॥

**कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्न-
निर्वृतिलक्षणमनुभवति ॥ १७ ॥**

कभी मनोरथके पदार्थोंके समान अत्यन्त असत् पिता-पितामहा आदि सम्बन्धोंको सत्य समझकर उनके सहवाससे स्वप्नके समान क्षणिक सुखका अनुभव करता है ॥ १७ ॥

**क्वचिद् गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो
लोकव्यसनकर्षितमनाः कण्टकशर्कराक्षेत्रं प्रविशन्निव
सीदति ॥ १८ ॥**

गृहस्थाश्रमके लिये जिस कर्मविधिका महान् विस्तार किया गया है, उसका अनुष्ठान किसी पर्वतकी कड़ी चढ़ाईके समान ही है। लोगोंको उस ओर प्रवृत्त देखकर उनकी देखा-देखी जब यह भी उसे पूरा करनेका प्रयत्न करता है, तब तरह-तरहकी कठिनाइयोंसे क्लेशित होकर काँटे और कंकड़ोंसे भरी भूमिमें पहुँचे हुए व्यक्तिके समान दुःखी हो जाता है ॥ १८ ॥

**क्वचिच्च दुःसहेन कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः
स्वकुटुम्बाय क्रुध्यति ॥ १९ ॥**

कभी पेटकी असह्य ज्वालासे अधीर होकर अपने कुटुम्बपर ही बिगड़ने लगता है ॥ १९ ॥

**स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे तमसि मग्नः शून्यारण्य
इव शेते नान्यत् किञ्चन वेद शव इवापविद्धः ॥ २० ॥**

फिर जब निद्रारूप अजगरके चंगुलमें फँस जाता है, तब अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें डूबकर सूने वनमें फँके हुए मुर्देके समान सोया पड़ा रहता है। उस समय इसे किसी बातकी सुधि नहीं रहती ॥ २० ॥

कदाचिद् भग्नमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्धनिद्राक्षणो
व्यथितहृदयेनानुक्षीयमाणविज्ञानोऽन्धकूपेऽन्धवत्पतति ॥ २१ ॥

कभी दुर्जनरूप काटनेवाले जीव इतना काटते—तिरस्कार करते हैं कि इसके गर्वरूप दाँत, जिनसे यह दूसरोंको काटता था, टूट जाते हैं। तब इसे अशान्तिके कारण नींद भी नहीं आती तथा मर्मवेदनाके कारण क्षण-क्षणमें विवेकशक्ति क्षीण होते रहनेसे अन्तमें अन्धेकी भाँति यह नरकरूप अन्धे कुएँमें जा गिरता है ॥ २१ ॥

कर्हि स्म चित्काममधुलवान् विचिन्वन् यदा परदारपर-
द्रव्याण्यवरुन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे
निरये ॥ २२ ॥

कभी विषयसुखरूप मधुकणोंको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब यह लुक-छिपकर परस्त्री या परधनको उड़ाना चाहता है, तब उनके स्वामी या राजाके हाथसे मारा जाकर ऐसे नरकमें जा गिरता है, जिसका ओर-छोर नहीं है ॥ २२ ॥

अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः
संसारावपनमुदाहरन्ति ॥ २३ ॥

इसीसे ऐसा कहते हैं कि प्रवृत्तिमार्गमें रहकर किये हुए लौकिक और वैदिक दोनों ही प्रकारके कर्म जीवको संसारकी ही प्राप्ति करानेवाले हैं ॥ २३ ॥

मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति तस्मादपि
विष्णुमित्र इत्यनवस्थितिः ॥ २४ ॥

यदि किसी प्रकार राजा आदिके बन्धनसे छूट भी गया तो अन्यायसे अपहरण किये हुए उन स्त्री और धनको देवदत्त नामका कोई दूसरा व्यक्ति छीन लेता है और उससे विष्णुमित्र नामका कोई तीसरा व्यक्ति झटक लेता है। इस प्रकार वे भोग एक पुरुषसे दूसरे

पुरुषके पास जाते रहते हैं, एक स्थानपर नहीं ठहरते ॥ २४ ॥

क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकभौतिकात्मीयानां दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण आस्ते ॥ २५ ॥

कभी-कभी शीत और वायु आदि अनेकों आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखकी स्थितियोंके निवारण करनेमें समर्थ न होनेसे यह अपार चिन्ताओंके कारण उदास हो जाता है ॥ २५ ॥

क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्भ्रमन्येभ्यो वा काकिणिकामात्रमप्यपहरन् यत्किञ्चिद्वा विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात् ॥ २६ ॥

कभी परस्पर लेन-देनका व्यवहार करते समय किसी दूसरेका थोड़ा-सा-दमड़ीभर अथवा इससे भी कम धन चुरा लेता है तो इस बेईमानीके कारण उससे वैर ठन जाता है ॥ २६ ॥

अध्वन्यमुष्मिन्मि उपसर्गास्तथा सुखदुःखरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्याविमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरामरणादयः ॥ २७ ॥

इस मार्गमें पूर्वोक्त विघ्नोंके अतिरिक्त सुख-दुःख, राग-द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा-पिपासा, आधि-व्याधि, जन्म, जरा और मृत्यु आदि और भी अनेकों विघ्न हैं ॥ २७ ॥

क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्न-विवेकविज्ञानो यद्विहारगृहारम्भाकुलहृदयस्तदाश्रयावसक्त-सुतदुहितृकलत्रभाषितावलोकविचेष्टितापहतहृदय आत्मान-मजितात्मापारेऽन्धे तमसि प्रहिणोति ॥ २८ ॥

(इस विघ्नबहुल मार्गमें इस प्रकार भटकता हुआ यह जीव) किसी समय देवमायारूपिणी स्त्रीके बाहुपाशमें पड़कर विवेकहीन हो

जाता है। तब उसीके लिये विहारभवन आदि बनवानेकी चिन्तामें ग्रस्त रहता है तथा उसीके आश्रित रहनेवाले पुत्र, पुत्री और अन्यान्य स्त्रियोंके मीठे-मीठे बोल, चितवन और चेष्टाओंमें आसक्त होकर, उन्हींमें चित्त फँस जानेसे वह इन्द्रियोंका दास अपार अन्धकारमय नरकोंमें गिरता है ॥ २८ ॥

कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णोश्चक्रात् परमाण्वादिद्वि-
परार्धापवर्गकालोपलक्षणात्परिवर्तितेन वयसा रंहसा हरत
आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्त-
हृदयस्तमेवेश्वरं कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुष-
मनादृत्य पाखण्डदेवताः कङ्कगृध्रबकवटप्राया आर्यसमयपरिहृताः
साङ्केत्येनाभिधत्ते ॥ २९ ॥

कालचक्र साक्षात् भगवान् विष्णुका आयुध है। वह परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त क्षण-घटी आदि अवयवोंसे युक्त है। वह निरन्तर सावधान रहकर घूमता रहता है, जल्दी-जल्दी बदलनेवाली बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ ही उसका वेग हैं। उसके द्वारा वह ब्रह्मासे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र तृणपर्यन्त सभी भूतोंका निरन्तर संहार करता रहता है। कोई भी उसकी गतिमें बाधा नहीं डाल सकता। उससे भय मानकर भी जिनका यह कालचक्र निज आयुध है, उन साक्षात् भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना छोड़कर यह मन्दमति मनुष्य पाखण्डियोंके चक्करमें पड़कर उनके कंक, गिद्ध, बगुला और बटेरके समान आर्यशास्त्र-बहिष्कृत देवताओंका आश्रय लेता है—जिनका केवल वेदबाह्य अप्रामाणिक आगमोंने ही उल्लेख किया है ॥ २९ ॥

यदा पाखण्डिभिरात्मवज्चितैस्तैरुरु वज्चितो ब्रह्मकुलं
समावसंस्तेषां शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानेन भगवतो
यज्ञपुरुषस्याराधनमेव तदरोचयन् शूद्रकुलं भजते निगमा-

चारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा
वानरजातेः ॥ ३० ॥

ये पाखण्डी तो स्वयं ही धोखेमें हैं; जब यह भी उनकी ठगाईमें आकर दुःखी होता है, तब ब्राह्मणोंकी शरण लेता है। किन्तु उपनयन-संस्कारके अनन्तर श्रौत-स्मार्तकर्मोंसे भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करना आदि जो उनका शास्त्रोक्त आचार है, वह इसे अच्छा नहीं लगता; इसलिये वेदोक्त आचारके अनुकूल अपनेमें शुद्धि न होनेके कारण यह कर्मशून्य शूद्रकुलमें प्रवेश करता है, जिसका स्वभाव वानरोंके समान केवल कुटुम्बपोषण और स्त्रीसेवन करना ही है ॥ ३० ॥

तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्तिकृपण-
बुद्धिरन्योन्यमुखनिरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव विस्मृत-
कालावधिः ॥ ३१ ॥

वहाँ बिना रोक-टोक स्वच्छन्द विहार करनेसे इसकी बुद्धि अत्यन्त दीन हो जाती है और एक-दूसरेका मुख देखना आदि विषय-भोगोंमें फँसकर इसे अपने मृत्युकालका भी स्मरण नहीं होता ॥ ३१ ॥

क्वचिद् द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन् यथा वानरः
सुतदारवत्सलो व्यवायक्षणः ॥ ३२ ॥

वृक्षोंके समान जिनका लौकिक सुख ही फल है—उन घरोंमें ही सुख मानकर वानरोंकी भाँति स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त होकर यह अपना सारा समय मैथुनादि विषय-भोगोंमें ही बिता देता है ॥ ३२ ॥

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात्तमसि गिरिकन्दर-
प्राये ॥ ३३ ॥

इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें पड़कर सुख-दुःख भोगता हुआ यह जीव रोगरूपी गिरिगुहामें फँसकर उसमें रहनेवाले मृत्युरूप हाथीसे डरता रहता है ॥ ३३ ॥

क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविकभौतिकात्मीयानां दुःखानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयविषण्ण आस्ते ॥ ३४ ॥

कभी-कभी शीत, वायु आदि अनेक प्रकारके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखोंकी निवृत्ति करनेमें जब असफल हो जाता है, तब उस समय अपार विषयोंकी चिन्तासे यह खिन्न हो उठता है ॥ ३४ ॥

क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धनमुपयाति वित्त-शाठ्येन ॥ ३५ ॥

कभी आपसमें क्रय-विक्रय आदि व्यापार करनेपर बहुत कंजूसी करनेसे इसे थोड़ा-सा धन हाथ लग जाता है ॥ ३५ ॥

क्वचित्क्षीणधनः शय्यासनाशनाद्युपभोगविहीनो यावद-प्रतिलब्धमनोरथोपगतादानेऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि जनादभिलभते ॥ ३६ ॥

कभी धन नष्ट हो जानेसे जब इसके पास सोने, बैठने और खाने आदिकी भी कोई सामग्री नहीं रहती, तब अपने अभीष्ट भोग न मिलनेसे यह उन्हें चोरी आदि बुरे उपायोंसे पानेका निश्चय करता है। इससे इसे जहाँ-तहाँ दूसरोंके हाथसे बहुत अपमानित होना पड़ता है ॥ ३६ ॥

एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि पूर्ववासनया मिथ उद्वहत्यथापवहति ॥ ३७ ॥

इस प्रकार धनकी आसक्तिसे परस्पर वैरभाव बढ़ जानेपर भी यह अपनी पूर्ववासनाओंसे विवश होकर आपसमें विवाहादि सम्बन्ध करता और छोड़ता रहता है ॥ ३७ ॥

एतस्मिन् संसाराध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र यस्तमु ह वावेतरस्तत्र विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन् बिभ्यद्विवदन् क्रन्दन् संहृष्यन्-गायन्नुद्विगमानः साधुवर्जितो नैवावर्ततेऽद्यापि यत आरब्ध एष

नरलोकसार्थो यमध्वनः पारमुपदिशन्ति ॥ ३८ ॥

इस संसारमार्गमें चलनेवाला यह जीव अनेक प्रकारके क्लेश और विघ्न-बाधाओंसे बाधित होनेपर भी मार्गमें जिसपर जहाँ आपत्ति आती है अथवा जो कोई मर जाता है; उसे जहाँ-का-तहाँ छोड़ देता है; तथा नये जन्मे हुआओंको साथ लगाता है, कभी किसीके लिये शोक करता है, किसीका दुःख देखकर मूर्च्छित हो जाता है, किसीके वियोग होनेकी आशंकासे भयभीत हो उठता है, किसीसे झगड़ने लगता है, कोई आपत्ति आती है तो रोने-चिल्लाने लगता है, कहीं कोई मनके अनुकूल बात हो गयी तो प्रसन्नताके मारे फूला नहीं समाता, कभी गाने लगता है और कभी उन्हींके लिये बँधनेमें भी नहीं हिचकता। साधुजन इसके पास कभी नहीं आते, यह साधुसंगसे सदा वंचित रहता है। इस प्रकार यह निरन्तर आगे ही बढ़ रहा है। जहाँसे इसकी यात्रा आरम्भ हुई है और जिसे इस मार्गकी अन्तिम अवधि कहते हैं, उस परमात्माके पास यह अभीतक नहीं लौटा है ॥ ३८ ॥

यदिदं योगानुशासनं न वा एतदवरोध्यते यन्न्यस्तदण्डा मुनय उपशमशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति ॥ ३९ ॥

परमात्मातक तो योगशास्त्रकी भी गति नहीं है; जिन्होंने सब प्रकारके दण्ड (शासन)-का त्याग कर दिया है, वे निवृत्तिपरायण संयतात्मा मुनिजन ही उसे प्राप्त कर पाते हैं ॥ ३९ ॥

यदपि दिग्भजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किं तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य स्वयमुपसंहृताः ॥ ४० ॥

जो दिग्गजोंको जीतनेवाले और बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले राजर्षि हैं, उनकी भी वहाँतक गति नहीं है। वे संग्रामभूमिमें शत्रुओंका सामना करके केवल प्राणपरित्याग ही करते हैं तथा जिसमें 'यह' मेरी है, ऐसा अभिमान करके वैर ठाना था—उस पृथ्वीमें ही

अपना शरीर छोड़कर स्वयं परलोकको चले जाते हैं। इस संसारसे वे भी पार नहीं होते ॥ ४० ॥

**कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः
पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि
गतोऽपि ॥ ४१ ॥**

अपने पुण्यकर्मरूप लताका आश्रय लेकर यदि किसी प्रकार यह जीव इन आपत्तियोंसे अथवा नरकसे छुटकारा पा भी जाता है तो फिर इसी प्रकार संसारमार्गमें भटकता हुआ इस जनसमुदायमें मिल जाता है। यही दशा स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकोंमें जानेवालोंकी भी है ॥ ४१ ॥

तस्येदमुपगायन्ति—

**आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः ।
नानुवर्त्माहति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥ ४२ ॥**

[राजन्!] राजर्षि भरतके विषयमें पण्डितजन ऐसा कहते हैं—
जैसे गरुडजीकी होड़ कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी प्रकार राजर्षि महात्मा भरतके मार्गका कोई अन्य राजा मनसे भी अनुसरण नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥

**यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥ ४३ ॥**

उन्होंने पुण्यकीर्ति श्रीहरिमें अनुरक्त होकर अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादिको युवावस्थामें ही विष्ठाके समान त्याग दिया था; दूसरोंके लिये तो इन्हें त्यागना बहुत ही कठिन है ॥ ४३ ॥

**यो दुस्त्यजान् क्षितिमुतस्वजनार्थदारान्
प्राथ्या श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।**

नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-

सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥ ४४ ॥

उन्होंने अति दुस्त्यज पृथ्वी, पुत्र, स्वजन, सम्पत्ति और स्त्रीकी

तथा जिसके लिये बड़े-बड़े देवता भी लालायित रहते हैं, किन्तु जो स्वयं उनकी दयादृष्टिके लिये उनपर दृष्टिपात करती रहती थी—उस लक्ष्मीकी भी, लेशमात्र इच्छा नहीं की। यह सब उनके लिये उचित ही था; क्योंकि जिन महानुभावोंका चित्त भगवान् मधुसूदनकी सेवामें अनुरक्त हो गया है, उनकी दृष्टिमें मोक्षपद भी अत्यन्त तुच्छ है ॥ ४४ ॥

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय
योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं
हास्यन्मृगतत्वमपि यः समुदाजहार ॥ ४५ ॥

उन्होंने मृगशरीर छोड़नेकी इच्छा होनेपर उच्चस्वरसे कहा था कि धर्मकी रक्षा करनेवाले, धर्मानुष्ठानमें निपुण, योगगम्य, सांख्यके प्रतिपाद्य, प्रकृतिके अधीश्वर, यज्ञमूर्ति सर्वान्तर्यामी श्रीहरिको नमस्कार है ॥ ४५ ॥

य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो
राजर्षेर्भरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं
स्वर्ग्यापवर्ग्यं वानुशृणोत्याख्यास्यत्यभिनन्दति च सर्वा एवाशिष
आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति ॥ ४६ ॥

राजन्! राजर्षि भरतके पवित्र गुण और कर्मोंकी भक्तजन भी प्रशंसा करते हैं। उनका यह चरित्र बड़ा कल्याणकारी, आयु और धनकी वृद्धि करनेवाला, लोकमें सुयश बढ़ानेवाला और अन्तमें स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है। जो पुरुष इसे सुनता या सुनाता है और इसका अभिनन्दन करता है, उसकी सारी कामनाएँ स्वयं ही पूर्ण हो जाती हैं; दूसरोंसे उसे कुछ भी नहीं माँगना पड़ता ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसगीतायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

॥ परमहंसगीता सम्पूर्णा ॥